योगसारप्राभृत–शतक

(आचार्य अमितगति के योगसार–प्राभृत' से चयनित १०१ श्लोकों का संकलन)

सम्पादक

ब्र. यशपाल जैन, *एम.ए.*

जयपुर

प्रकाशक

पताशे प्रकाशन संस्था,
घटप्रभा, जिला–बेलगाँव (कर्ना.)
एवं
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रथम संस्करण : १ हजार
(दीपावली, १२ नवम्बर २००४)

मूल्य : **४ रुपए**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	५०१.००
२. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
३. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
४. श्री मांगीलाल अर्जुनलालजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
५. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, इन्दौर	२५१.००
६. स्व. श्रीमती सीमा काला की स्मृति में ध.प.	
श्री राजेशकुमारजी काला परिवार, इन्दौर	२५१.००
७. श्रीमती प्रीति पवनकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	२५१.००
८. श्री सचिनजी पाण्डे, छिन्दवाड़ा	२५१.००
९. श्री भागचन्दजी कोठ्यारी, जयपुर	१५१.००
१०. श्रीमती भावना जैन ध.प. सुनीलकुमारजी चौधरी, भीलवाड़ा	१११.००
११. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१०१.००
कुल राशि :	**२६२१.००**

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड,
बाईस गोदाम, जयपुर

सम्पादकीय

'योगसार-प्राभृत शतक' पाठकों के करकमलों में देते हुए विशेष हर्ष हो रहा है। योगसार-प्राभृत आचार्य अमितगति द्वारा ५४० श्लोकों में निबद्ध आध्यात्मिक कृति है। इस पर आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में टेलीफोन, मोबाइल, फैक्स, ई-मेल, रेडियो, टी.वी., हवाई जहाज आदि साधनों के कारण दुनिया तो बहुत छोटी हो गई है; लेकिन इसी के साथ भौतिक समृद्धि की होड़ में लोगों के पास समय की भी बहुत कमी होती जा रही है। इसीकारण आचार्यों के बड़े-बड़े मूलग्रन्थों को समग्र पढ़ने का समय ही नहीं मिल पाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए 'योगसार-प्राभृत' मूलग्रन्थ के ५४० श्लोकों में से मात्र धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने व प्रगट करने में उपयोगी विषयवाले १०१ श्लोकों का चयन कर इस पुस्तक में संकलित किया है।

इस शतक को डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल कृत हिन्दी पद्यानुवाद के साथ ही प्रकाशित करने का विचार था और अभी भी है, लेकिन डॉ. भारिल्ल अभी प्रवचनसार-अनुशीलन के लेखन में व्यस्त होने से संभव नहीं हो पाया है। मात्र यह शतक ही नहीं, अपितु पूर्ण ग्रंथ ही उनके हिन्दी पद्यानुवाद सहित पाठकों के हाथ में शीघ्र ही देने की भावना है।

आशा है पाठकों को इस शतक के माध्यम से मूलग्रंथ के स्वाध्याय व आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों के अध्ययन की रुचि जागृत होगी।

– ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं पताशे प्रकाशन संस्था घटप्रभा के माध्यम से 'योगसारप्राभृत-शतक' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आचार्य अमितगति विरचित 'योगसार-प्राभृत' जैसे आध्यात्मिक ग्रंथ का प्रकाशन अभी हाल ही में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा किया गया, जिसका समाज में समुचित समादर हुआ है और पर्याप्त बिक्री हुई। पाठकों की भावना थी कि इसे लघुरूप में भी प्रकाशित किया जाए, ताकि अल्पसमय में इसका स्वाध्याय किया जा सके।

पाठकों के सुझाव को दृष्टिगत रखते हुए मूल ग्रंथ की विषयवस्तु को समग्र रूप से इस लघु पुस्तिका में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस कार्य में ब्र. यशपाल जैन का विशेष योगदान रहा है और जिसप्रकार रुचिपूर्वक वे प्रकाशन के कार्य में रत हैं, इससे संस्था को बल मिला है। उनका मार्गदर्शन व अनुकरणीय सहयोग के लिए संस्था उनकी हृदय से आभारी है।

प्रस्तुत पुस्तिका का कम्पोजिंग कार्य श्री दिनेश शास्त्री द्वारा मनोयोगपूर्वक किया गया है, संस्था की ओर से उन्हें हार्दिक धन्यवाद। प्रकाशन व्यवस्था सदा की भाँति प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल ने सम्हाली है। आवरण को नयनाभिराम बनाने में इनका सराहनीय सहयोग रहा है; एतदर्थ हम इनके भी हृदय से आभारी हैं। प्रकाशन को अति अल्प मूल्य में पहुँचाने का श्रेय दान-दातारों को है, जिनकी सूची पृथक् से प्रकाशित की गई है। सभी सहयोगियों को कोटिश: धन्यवाद।

आप सभी इस कृति का स्वाध्याय कर, इसके हार्द को समझें – इसी आशा और विश्वास के साथ –

श्रीमती इन्दुमति अण्णासाहेब खेमलापुरे
अध्यक्षा
पताशे प्रकाशन संस्था, घटप्रभा

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

योगसारप्राभृत शतक

(१)

ग्रंथकार का मंगलाचरण एवं उद्देश्य -

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये।
स्व-स्वभावमयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषम्।।१।।

मैं अमितगति आचार्य अपने स्वभाव की प्राप्ति के लिये उस सिद्ध की स्तुति करता हूँ; जो शुद्ध, वीतराग, ज्ञानमय, अविनाशी, अच्युत, नित्य एवं अपने स्वरूप में स्थित है।

(२)

निज शुद्धात्मा का स्वरूप एवं उसके श्रद्धान का फल -

यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत्क्रमातीतमतीन्द्रियम्।
श्रद्दधात्यात्मनो रूपं स याति पदमव्ययम्।।३२।।

जो सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है, क्रमातीत अर्थात् आदि-मध्य-अंत से रहित है और इन्द्रियज्ञानगोचर नहीं है - आत्मा के ऐसे रूप का जो जीव श्रद्धान करता है, वह अविनाशी पद - मोक्ष को प्राप्त होता है।

(३)

रागादि भाव कर्मजनित हैं -

विकारा: सन्ति ये केचिद्राग-द्वेष-मदादय:।
कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयास्तिग्मांशोरिव मेघजा: ।।१०५।।

मेघ के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले सूर्य के विकार के समान जीव के राग, द्वेष, मद आदि जो कुछ भी विकार अर्थात् विभाव भाव हैं, वे सब कर्मजनित हैं; ऐसा जानना चाहिए।

(४)

एक निज परम तत्त्व ही उपादेय -

विविक्तमान्तरं ज्योतिर्निराबाधमनामयम्।
यदेतत् तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः।।४८९।।

यह जो विविक्त अर्थात् कर्मरूपी कलंक से रहित-अनादि अनंत, स्वभाव से सर्वथा शुद्ध, निर्भय, निरामय/निर्विकार अंतरंग ज्योति अर्थात् ज्ञानमय आत्मतत्त्व है, वही परम तत्त्व है, उससे भिन्न अन्य सब उपद्रव है।

(५)

आत्मा भी अपने स्वभाव में स्थित -

नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्भिरिव निर्मलः।
आत्माकाशमिवामूर्तः परद्रव्यैरनश्वरः।।५०३।।

जिसप्रकार आकाशद्रव्य स्वभाव से निर्मल, अमूर्त तथा अविनश्वर है, वह उसमें अवगाहन प्राप्त करनेवाले जीवादि अनंतानंत द्रव्यों के द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार स्वभाव से निर्मल, अमूर्तिक अविनश्वर आत्मा उसके संयोग में आनेवाले अनंतानंत द्रव्यों के द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता, वह ज्ञानस्वभावी ही रहता है।

(६)

सम्यक्त्व का स्वरूप -

यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः।
जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्क्षमं सिद्धिसाधने।।१६।।

आत्मवस्तु जिस रूप में है, उसको उसी रूप में जानना जिस कारण से होता है, उसको जिनेन्द्र देव ने सम्यक्त्व कहा है। वह सम्यक्त्व आत्मसिद्धि का साधन है।

(७)

वीतरागता से विवाद का अभाव -

ज्ञाते निर्वाण-तत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः।
मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ विवाद उपपद्यते।।४४८।।

जिनेन्द्रदेव ने मोक्षतत्त्व का कथन असंमोहरूप से अर्थात् वीतरागतापूर्वक जानकर किया है; अतः मुमुक्षुओं के लिये किये गये मोक्षसंबंधी कथन में विवाद अर्थात् मतभेद नहीं हो सकता।

(८)

सर्वज्ञता से मोक्षमार्ग में एकरूपता -

सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः।
प्राञ्जलोऽयं ततो भेदः कदाचिन्नात्र विद्यते।।४४९।।

क्योंकि केवलज्ञान से देखा अर्थात् जाना गया मुक्तिप्रवेशमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग प्रांजल अर्थात् स्पष्ट एवं निर्दोष है; इसलिए मोक्षमार्ग के स्वरूप में तथा कथन में कभी कोई मतभेद नहीं होता; इसका अर्थ मोक्षमार्ग में नियम से एकरूपता रहती है।

(९)

शास्त्र संबंधी आदर का सहेतुक कथन -

उपदेशं विनाप्यङ्गी पटीयानर्थकामयोः।
धर्मे तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः।।४२६।।

चतुर्गतिरूप दु:खद संसार में स्थित मनुष्यादि सब जीव अर्थ और काम पुरुषार्थों के साधनों में उपदेश के बिना भी निपुण रहते हैं अर्थात् प्रवृत्ति करते ही हैं, परन्तु धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के साधनों में शास्त्र के बिना अनादिकाल से कोई भी जीव प्रवृत्त नहीं होता; इसलिए शास्त्र-संबंधी आदर होना अतिशय हितकारक है।

(१०)

प्रवृत्ति के अभाव से पुरुषार्थ की विभिन्नता -

अर्थकामाविधानेन तदभावः परं नृणाम्।
धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावश्च जायते ।।४२७।।

अर्थ एवं कामपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति न करने से किसी मनुष्य के जीवन में इन दोनों पुरुषार्थों का कदाचित् अभाव हो सकता है; परन्तु धर्मपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति न करने से धर्मपुरुषार्थ का मात्र अभाव ही नहीं होता, उलट धर्मपुरुषार्थ के साधनों में अनर्थ अर्थात् विपरीतता घटित होती है। अतः धर्मपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति आवश्यक है।

(११)

एक शास्त्र/तत्त्वज्ञान ही जीवों को मार्गदर्शक -

तस्माद्धर्मार्थिभिः शाश्वच्छास्त्रे यत्नो विधीयते।
मोहान्धकारिते लोके शास्त्रं लोक-प्रकाशकम् ।।४२८।।

इसलिए जो भव्यात्मा वास्तविकरूप से यथार्थ धर्म के अभिलाषी अर्थात् इच्छुक हैं, वे सदा शास्त्रोपदेश की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं – उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अति दुःखद-मोहरूपी अंधकार से परिपूर्ण व्याप्त जगत में एक शास्त्र ही अनंत जीवों को यथार्थ उपाय दिखानेवाले दीपक के समान प्रकाशक/मार्गदर्शक है।

(१२)

शास्त्र की और विशेषता -

मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकम् ।।४२९।।

क्रोध-मान-माया-लोभकषायरूपी रोग की सच्ची-सफल दवा शास्त्र है। सातिशय पुण्यपरिणाम एवं पुण्यकर्मबंध का सर्वोत्तम कारण

शास्त्र है। जीवादि छह द्रव्य, सप्त तत्त्व अथवा नौ पदार्थों को सम्यक् रूप से दिखानेवाला/स्पष्ट करनेवाला शास्त्र ही चक्षु है और इस भव तथा परभव के सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाला भी शास्त्र ही है।

(१३)

उदाहरण सहित शास्त्र की उपयोगिता -

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनम्।
रागादि-दोष-दुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा ।।४३१।।

जिसप्रकार मलिन वस्त्र जल से शुद्ध/पवित्र/निर्मल होता है, उसीप्रकार राग-द्वेषादि से दूषित साधक का मन शास्त्र के अध्ययनादि से निर्मल अर्थात् वीतरागरूप बन जाता है।

(१४)

जिनलिंग धारण करना चाहिए -

विमुच्य विविधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहम्।
मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिङ्गं पटीयसा ।।३५७।।

जो भव्य मनुष्य मुक्ति-प्राप्त करने का इच्छुक हों, अति निपुण एवं विवेकसंपन्न हों, उसे अनेक प्रकार के आरंभों से सहित और अत्यंत पराधीनता का कारण घर अर्थात् गृहस्थपने का त्याग कर यथाजात जिनलिंग अर्थात् दिगंबर मुनिदीक्षा का स्वीकार करना चाहिए।

(१५)

दृष्टान्तपूर्वक आत्मविराधना के फल का कथन -

तुङ्गारोहणतः पातो यथा तृप्तिर्विषान्नतः।
यथानर्थोऽवबोधादि-मलिनीकरणे तथा ।।३८३।।

जिसप्रकार पर्वत से नीचे गिरना तथा विषमिश्रित भोजन से तृप्ति का अनुभव करना – दोनों महा अनर्थकारी अर्थात् मरण का ही कारण है; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानादि को मलिन अर्थात् दूषित करना अत्यंत अनर्थकारी है अर्थात् दुःखरूप संसार में भटकने का कारण है।

(१६)

परिग्रह से बंध अनिवार्य -

साधुर्यतोऽङ्घिघातेऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा।

उपाधिभ्यो ध्रुवो बन्धस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः ।।३९०।।

आहार-विहारादि के समय मुनिराज के शरीर की क्रिया के निमित्त से और प्रमादरूप परिणाम के सद्भाव से अन्य जीव की हिंसा होने पर मुनिराज को कर्म का बंध होता है और कभी कायचेष्टा के कारण जीव के घात होनेपर भी यदि प्रमादरूप परिणाम न हों तो कर्म का बंध नहीं होता; परंतु परिग्रह के कारण नियम से कर्म का बंध होता ही है। इसलिए मुनिराज परिग्रह का सर्वथा त्याग करते हैं।

(१७)

अति अल्प परिग्रह भी बाधक -

एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते ।

चित्तशुद्धिं बिना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः ।।३९१।।

यदि मुनिराज एक भी परिग्रह का त्याग नहीं करेंगे अर्थात् अत्यल्प भी परिग्रह का स्वीकार करेंगे तो - उनके चित्त की पूर्णतः विशुद्धि नहीं हो सकती और चित्तशुद्धि के बिना साधु के कर्मों से मुक्ति कैसे होगी? अर्थात् परिग्रह सहित साधु कर्मों से मुक्त नहीं हो सकते।

(१८)

अग्राह्य परिग्रह का स्वरूप -

संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते यदसंयतैः।

येन संपद्यते मूर्च्छा तन्न ग्राह्यं हितोद्यतैः ।।३९७।।

जो साधु अपनी हित की साधना में उद्यमी हैं, वे उन पदार्थों को ग्रहण नहीं करते, जिनसे उनकी संयम की हानि हो; ममत्व परिणाम की उत्पत्ति हो अथवा जो पदार्थ असंयमी के द्वारा प्रार्थित हो अर्थात जिन्हें असंयमी लोग निरंतर चाहते हैं।

(१९)

मोक्षाभिलाषी साधु का स्वरूप -

मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निस्पृहा।

न वस्त्वकिंचनाः किंचित् ते गृह्णन्ति कदाचन ।।३९८।।

मात्र मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले साधुजन अपने शरीर से भी विरक्त रहते हैं; इसकारण अपरिग्रहमहाव्रत के धारक मुनिराज अत्यल्प भी बाह्य परिग्रह को कदाचित् भी ग्रहण नहीं करते।

(२०)

अनाहारी मुनिराज का स्वरूप -

आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिक्षा येषामणेषणा।

संयता सन्त्यनाहारास्ते सर्वत्र समाशयाः ।।४१३।।

जो मुनिराज सतत् आत्मा की अन्वेषणा/खोज में लगे रहते हैं (अर्थात् जो शुद्धोपयोग अथवा शुद्धपरिणतिजन्य आनन्द का रसास्वादन करते रहते हैं) जिनका आहार इच्छा से रहित अर्थात् नियम से अनुदिष्ट/सहज प्राप्त रहता है, जो अनुकूल-प्रतिकूल सब संयोग-वियोग में सर्वत्र सदा राग-द्वेष परिणामों से रहित अर्थात् वीतराग परिणाम से परिणमित रहते हैं, उन मुनिराजों को अनाहारी संयत कहते हैं।

(२१)

देहमात्र परिग्रहधारी साधु का स्वरूप -

यः स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते।

साधुः केवलदेहोऽसौ निष्प्रतीकार-विग्रहः ।।५१४।।

जो मुनिराज शरीर का प्रतिकार अर्थात् शोभा, श्रृंगार, तेल मर्दनादि संस्कार करनेरूप राग परिणाम से रहित हैं, संयोगों में प्राप्त अपनी शरीर की सामर्थ्य और पर्यायगत अपनी आत्मा की पात्रता को न छिपाते हुए सदा अंतरंग एवं बाह्य तपों को तपने में तत्पर रहते हैं, वे देहमात्र परिग्रहधारी साधु हैं।

(२२)

मुनिराज के हाथ में प्राप्त अन्न दूसरे को देय नहीं -

पिण्डः पाणि-गतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेद् दोषभाग् यतिः ।।५२०।।

दातारों से मुनिराज के हाथ में प्राप्त हुआ प्रासुक आहार दूसरों को देनेयोग्य नहीं है। यदि मुनिराज हस्तगत आहार दूसरे को देते हैं तो उन्हें उस समय पुनः आहार नहीं लेना चाहिए। यदि वे मुनिराज हस्तगत अन्न अन्य को देकर भी स्वयं उसी समय आहार ग्रहण करते हैं तो वे दोष के भागी होते हैं।

(२३)

तपस्वी मुनिराज को अकरणीय कार्य -

संयमो हीयते येन येन लोको विराध्यते।
ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः ।।४२३।।

जिनके द्वारा मुनि जीवन में स्वीकृत संयम की हानि हों, एकेन्द्रियादिक जीवों को पीड़ा पहुँचती हों एवं स्वयं को तथा परजीवों को संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हों, उन कार्यों को तपस्वी मुनिराज नहीं करते - ऐसे कार्य मुनिराजों को नहीं करना चाहिए।

(२४)

आगम में प्रवृत्ति की प्रेरणा -

एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः।
यस्मादागमतस्तस्मात् तस्मिन्नाद्रियतां तराम् ।।४२४।।

तीन लोक में स्थित सर्व पदार्थ संबंधी यथार्थ निर्णय/निश्चय एकाग्रचित्त के धारक साधु को जिनेन्द्रकथित आगम के अध्ययन से ही होता है। इसलिए साधु को विशेष आदर से आगम में प्रवृत्ति करना चाहिए अर्थात् आगम एवं परमागम का अध्ययन अत्यंत सूक्ष्मता से तथा सन्मानपूर्वक करना आवश्यक है।

(२५)

देशना के विभिन्नता का कारण -

विचित्रा देशनास्तत्र भव्यचित्तानुरोधतः।
कुर्वन्ति सूरयो वैद्या यथाव्याध्यनुरोधतः ।।४५०।।

जिस समय जिस रोगी की जिसप्रकार की व्याधि/बीमारी होती है; उस समय चतुर वैद्य उस व्याधि तथा रोगी की प्रकृति आदि के अनुरूप योग्य औषधि की योजना करते हैं; उसीप्रकार मुक्तिमार्ग के संबंध में भी आचार्य महोदय भव्य जीवों के चित्तानुरोध से नाना प्रकार की देशनाएँ देते हैं।

(२६)

प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना से चेतन मुनि वन्दित नहीं -

प्रमत्तादिगुणस्थानवन्दना या विधीयते।
न तया वन्दिता सन्ति मुनयश्चेतनात्मकाः ।।९८।।

प्रमत्त-अप्रमत्तादि गुणस्थानों से लेकर अयोग केवली पर्यंत गुणस्थानों में विराजमान गुरु तथा परमगुरुओं की वंदना/स्तुति गुणस्थान द्वारा करने पर भी चेतनात्मक महामुनीश्वरों की वास्तविक वंदना/स्तुति नहीं होती (केवल जड़ की ही स्तुति होती है।)

(२७)

जिलाने आदि की मान्यता मिथ्यात्वजनित -

या जीवयामि जीव्येऽहं मार्येऽहं मारयाम्यहम्।
निपीडये निपीड्येऽहं सा बुद्धिर्मोहकल्पिता ।।१६१।।

मैं दूसरे जीवों को जिलाता हूँ, मुझे दूसरे जीव जिलाते हैं, मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ, मुझे दूसरे जीव मारते हैं, मैं दूसरे जीवों को पीड़ा देता हूँ, मुझे दूसरे जीव पीड़ा देते हैं - इसतरह की जो मान्यता है, वह मिथ्यात्व से निर्मित है।

(२८)

कर्त्ताबुद्धि मिथ्या है -

कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः।
उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति क्रियते मतिः ।।१६२।।

कोई भी द्रव्य अन्य किसी भी द्रव्य का उपकार तथा अपकार करनेवाला नहीं है। व्यावहारिक जीवन में मैं दूसरों का कल्याण/अच्छा करता हूँ अथवा मैं अकल्याण/बुरा करता हूँ; यह मान्यता मिथ्या/खोटी है।

(२९)

ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता -

चक्षुर्गृण्ह्यद्यथारूपं रूपरूपं न जायते।
ज्ञानं जानत्तथा ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते ।।२२।।

जिसप्रकार आँख रंग-रूप को ग्रहण करती/जानती हुई रंग-रूपमय नहीं हो जाती, उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं होता; परन्तु ज्ञानरूप ही रहता है।

(३०)

ज्ञान, स्वभाव से ही स्व-पर प्रकाशक है -

ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छित्ते स्वभावतः।
दीप उद्योतयत्यर्थं स्वस्मिन्नान्यमपेक्षते।।२४ ।।

ज्ञान अपने को और पदार्थ को स्वभाव से जानता है। जैसे - दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसे अपने को प्रकाशित करने में भी किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती है।

(३१)

श्रुतज्ञान से भी केवलज्ञान के समान आत्मबोध की प्राप्ति -

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्नीरागीभूतचेतनैः।
निरवद्यश्रुतेनापि केवलेनेव बुध्यते ।।३४ ।।

निज आत्मा के विचार में निपुण रागरहित जीव (साम्यभावरूप परिणमित सम्यग्दृष्टि) निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा को केवलज्ञान के समान जानते हैं।

(३२)

सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति का काल -

रागद्वेषापराधीनं यदा ज्ञानं प्रवर्तते।
तदाभ्यधायि चारित्रमात्मनो मलसूदनम् ।।३५ ।।

जब ज्ञान अर्थात् आत्मा राग-द्वेष की पराधीनता से रहित प्रवर्तता है, तब आत्मा के कर्मरूपी मल का नाशक चारित्र होता है, ऐसा कहा है।

(३३)

आत्मरमणता से पापों का पलायन -

हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं सङ्गसंग्रहः।
आत्मरूपगते ज्ञाने निःशेषं प्रपलायते ।।३७ ।।

ज्ञान के आत्मरूप में परिणत होने पर अर्थात् आत्मा के आत्मस्वरूप में लीन होने पर हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह - ये पाँचों पाप भाग जाते हैं अर्थात् कोई भी पाप नहीं रहता।

(३४)

ज्ञान और वेदन की परिभाषा -

यथावस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः ।।१७३।।

जो वस्तु जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में जानने को ज्ञानीजनों ने ज्ञान कहा है और जो जानना राग-द्वेष, मद, क्रोध सहित होता है, उसे वेदन कहते हैं।

(३५)

परद्रव्य को जानने का लाभ -

विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्य-जिघृक्षया।
अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिघृक्षति।।२८३।।

आत्मद्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा से परद्रव्य को जानना चाहिए। जो परद्रव्य के ज्ञान से रहित है, वह आत्मद्रव्य के ग्रहण की इच्छा नहीं करता।

(३६)

जिसकी उपासना उसकी प्राप्ति -

ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति।
आराधना कृता यस्माद् विद्यमानं प्रदीयते।।२८६।।

जो विवेकी जीव ज्ञान की अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा की आराधना करता है, उसे ज्ञान प्राप्त होता है और जो अविवेकी अज्ञान की अर्थात् अज्ञानस्वभावी जड़ की आराधना करता है, उसे अज्ञान प्राप्त होता है; क्योंकि यह जगप्रसिद्ध सिद्धांत है कि जिसके पास जो वस्तु होती है, वह उसको देता है।

(३७)

परोक्ष ज्ञान से आत्मा की प्रतीति होती है -

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि।
सोऽनेन परकीयेण तदा किं न प्रतीयते।।२८९।।

यदि मति-श्रुतरूप परोक्षज्ञान से स्पर्शादि विषयों का स्पष्ट/प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक) ज्ञान होता है तो इस मतिश्रुतरूप परोक्ष ज्ञान से ही ज्ञानमय आत्मा का स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? अर्थात् अवश्य हो सकता है।

(३८)

हम-आप आत्मज्ञान कर सकते हैं - इसमें युक्ति -

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथम्।
उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किम्।।२९०।।

जैसे दीपक के प्रकाश को देखनेवाला मनुष्य प्रकाश-उत्पादक उस दीपक को सहजरूप से देखता है। वैसे जो ज्ञान, जड़-पुद्गलादि पदार्थ को जानता है; वही ज्ञान, ज्ञान उत्पादक जीव को भी अवश्य जानता है।

(३९)

आत्मशुद्धि के लिये ज्ञानाराधना -

ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन।
यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धिं विधित्सुभिः।।२९१।।

ज्ञान से संस्कारित हुआ जीव सदा ज्ञान में प्रवृत्त होता है, अज्ञान अर्थात् पुण्य-पाप में कदाचित् नहीं। इसलिए शुद्धि/वीतरागता/निर्जरा की इच्छा रखनेवाले को ज्ञान की उपासना/आराधना में बुद्धि लगाना चाहिए।

(४०)

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है -

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव चापलम्।
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः।।३११।।

जिसप्रकार सूर्य का स्वरूप उष्णपना, वायु का स्वरूप चंचलपना और चन्द्रमा का स्वरूप शीतलपना है; उसीप्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है।

(४१)

ज्ञान की महिमा -

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम्।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृति-साधनम्।।४८७।।

सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्र का आधार है, मोहरूपी महा अंधकार को नाश करनेवाला एक मात्र सम्यग्ज्ञान है, पुरुष अर्थात् आत्मा के प्रयोजन को पूरा करनेवाला है मोक्ष का साक्षात् साधन सम्यग्ज्ञान है।

(४२)

न भोगता हुआ मिथ्यादृष्टि बंधक -

सरागो बध्यते पापैरभुञ्जानोऽपि निश्चितम्।
अभुञ्जाना न किं मत्स्याः श्वभ्रं यान्ति कषायतः।।१६७।।

जिसप्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र में रहनेवाला तन्दुलमत्स्य न भोगता हुआ भी क्या कषाय से अर्थात् भोगने की लालसा से नरक को प्राप्त नहीं होता? अर्थात् नरक को प्राप्त होता ही है। उसीप्रकार द्रव्यों को न भोगता हुआ भी भोग में सुख की मान्यता रखनेवाला सरागी अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वादि सर्व पाप कर्मों के बंध को प्राप्त होता है, यह निश्चित है।

(४३)

वचनों से जीव का सम्बन्ध नहीं -

न निन्दा-स्तुति-वाक्यानि श्रूयमाणानि कुर्वते।
संबन्धाभावतः किंचिद् रुष्यते तुष्यते वृथा।।२२०।।

सुनने को मिले हुए निन्दा अथवा स्तुतिरूप वचन जीव का कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं करते; क्योंकि वचनों का जीव के साथ सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी जीव निन्दा अथवा स्तुतिरूप वचनों को सुनकर व्यर्थ ही राग-द्वेष करते हैं।

(४४)

शुद्ध आत्मा को छोड़कर उपासना करनेवालों की स्थिति -

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमुपासते।
ते भजन्ति हिमं मूढा विमुच्याग्निं हिमच्छिदे।।२७३।।

विविक्त अर्थात् (द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित) त्रिकाली, निज शुद्ध, सुख-स्वरूप भगवान आत्मा को छोड़कर जो अन्य (कल्पित रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को अथवा अरहंत-सिद्ध आदि इष्ट देवों) की भी मुक्ति के लिये उपासना/ध्यान करते हैं, वे मूढ़ कष्टदायक अति ठंड का नाश करने के लिये अग्नि को छोड़कर शीतलस्वभावी बर्फ का ही सेवन करते हैं, जो नियम से अनिष्ट फल-दाता है।

(४५)

जो अन्यत्र देव को ढूँढ़ता है, उसकी स्थिति -

योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि।
सोऽन्ने सिद्धे गृहे शङ्के भिक्षां भ्रमति मूढधीः।।२७४।।

वास्तविक देखा जाय तो अपने ही देहरूपी देवालय में परमात्मदेव विराजमान होने पर भी जो अज्ञानी परमात्मदेव को अन्यत्र मंदिर, तीर्थक्षेत्र आदि स्थान में ढूँढता है, मैं अमितगति आचार्य समझता हूँ कि वह मूढ़बुद्धि अपने ही घर में पौष्टिक और रुचिकर भोजन तैयार होने पर भी दीन-हीन बनकर भिक्षा के लिये अन्य के घरों में भ्रमण करता है।

(४६)

भोगता हुआ सम्यग्दृष्टि अबन्धक -

नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुञ्जानोऽपि न बध्यते।
शङ्खः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि।।१६६।।

जिसप्रकार कीचड आदि में विचरता/पड़ा हुआ भी शंख क्या काला हो जाता है? कदापि काला नहीं हो जाता, वह सफेद ही बना रहता है। उसीप्रकार जो कथंचित् वीतरागी हुआ श्रावक है, वह अप्रासुक पदार्थों का भोजन/सेवन करता हुआ भी मिथ्यात्वादि अनेक कर्म प्रकृतियों के बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

(४७)

सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का कोई भी कर्ता-हर्ता नहीं -

ज्ञान-दृष्टि-चरित्राणि ह्रियन्ते नाक्षगोचरैः ।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतम् ।।२०८।।

स्पर्शनेंद्रियादि इंद्रियों के विषयों को भोगने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूप पर्यायों का हरण अर्थात् नाश नहीं होता। निरन्तर जिनकी सेवा की गई है ऐसे सच्चे गुरु भी अपने शिष्य में सम्यग्दर्शनादि पर्यायों को उत्पन्न नहीं कर सकते।

(४८)

ज्ञाता-दृष्टा रहना मोक्षमार्ग है -

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपाकं सदापि यः ।
सर्व-कर्म-बहिर्भूतमात्मानं स प्रपद्यते ।।२३४।।

जो ज्ञानी जीव, पुण्य-पापरूप संपूर्ण कर्मों के इष्टानिष्ट फल को सदाकाल पुद्गल से उत्पन्न हुए जानता-मानता है, वह सर्व कर्मों से रहित सिद्ध-समान अपनी आत्म-अवस्था को प्राप्त होता है।

(४९)

कायोत्सर्ग का स्वरूप -

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्म-निर्मितम् ।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ।।२४२।।

काय अर्थात् शरीर को अचेतन, नाशवान एवं कर्म से उत्पन्न जानकर उस शरीर के कार्य में जो प्रवृत्त नहीं होते, अर्थात् शरीर का कर्ता नहीं मानते, वे ही कायोत्सर्ग करते हैं।

(५०)

बुद्धिमान पुण्य-पाप को एक मानते हैं -

पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः ।
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः ।।१८९।।

पुण्य-पापरूप कर्म के (अभेद मान्यता) कारण ही संसाररूपी दुःखद वन में प्रवेश होता है, यह जानकर शुद्धबुद्धिवाले जीव पुण्यपाप में भेद नहीं मानते अर्थात् दोनों को संसार-वन में भ्रमाने की दृष्टि से समान समझते हैं।

(५१)

राग-द्वेष न करने की सहेतुक प्रेरणा -

निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः ।
रोष-तोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः ।।२००।।

विश्व में जीवादि अनन्तानन्त द्रव्य हैं, उनमें से कोई भी द्रव्य किसी भी जीव का अच्छा अथवा बुरा करने में समर्थ नहीं है; इसलिए इस वास्तविक तत्त्व के जाननेवाले को जीवादि किसी भी परद्रव्य में राग अथवा द्वेष नहीं करना चाहिए।

(५२)

अपकार और उपकार करने की भावना व्यर्थ -

स्वदेहोऽपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे क्षमः ।
निग्रहानुग्रहौ तस्य कुर्वन्त्यन्ये वृथा मतिः ।।२०५।।

जहाँ मेरा शरीर भी मुझ आत्मा पर अपकार-उपकार करने में समर्थ नहीं है, वहाँ अन्य कोई जीव अथवा पुद्गल द्रव्य मुझ आत्मा पर अपकार अथवा उपकार करते हैं, यह मान्यता सर्वथा व्यर्थ/असत्य है।

(५३)

एक के इष्टानिष्ट चिन्तन से दूसरे का अच्छा-बुरा नहीं होता -

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा ध्यायतीति वृथा मतिः ।
पीड्यते पाल्यते वापि न परः परचिन्तया ।।२२४।।

यह मेरे अहित का चिन्तन करता है और यह मेरे हित का चिन्तन करता है, इसप्रकार का विचार निरर्थक है; क्योंकि एक के चिन्तन से किसी दूसरे का पीडित होना अथवा रक्षित होना बनता ही नहीं।

(५४)

देवेन्द्रों का विषय-सुख भी दु:ख ही है -

यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवम् ।
ददानं दाहिकां तृष्णां दु:खं तदवबुध्यताम् ।।१४३।।

(यदि यह पूछा जाय कि देवगति को प्राप्त देवेन्द्रों को तो बहुत सुख होता है फिर देवगति के सभी जीवों को दुःख सहनेवाला क्यों कहा है? तो इसका समाधान यह है कि)

देवेन्द्रों को इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न जो सुख होता है वह दाह उत्पन्न करनेवाली तृष्णा को देनेवाला है; इसलिए उसे (वस्तुतः) दुःख ही समझना चाहिए।'

(५५)

सांसारिक सुख को सुख माननेवाला मिथ्याचारित्री है -

सांसारिकं सुखं सर्वं दु:खतो न विशिष्यते ।
यो नैव बुध्यते मूढ: स चारित्री न भण्यते ।।१४५।।

'संसार का सम्पूर्ण सुख और दुःख - इनमें कोई अंतर नहीं', जो इस तत्त्व को नहीं समझता, वह मूढ़/मिथ्यादृष्टि चारित्रवान नहीं है; ऐसा समझना चाहिए।

(५६)

अज्ञानी पुण्य-पाप में भेद मानता है -

सुखासुख-विधानेन विशेष: पुण्य-पापयो: ।
नित्य-सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभि: ।।१८८।।

जो जीव नित्य अर्थात् शाश्वत, सच्चे निराकुल सुख से अपरिचित हैं, वे ही अज्ञानी इंद्रियजन्य सुख-निमित्तक कर्म को पुण्य और दुःख-निमित्तक कर्म को पाप, ऐसा भेद जानते/मानते हैं।

(५७)

मोह से बाह्य पदार्थ सुख-दु:खदाता -

आत्मन: सकलं बाह्यं शर्माशर्मविधायकम् ।
क्रियते मोहदोषेणापरथा न कदाचन ।।२२१।।

मोहरूपी दोष के कारण ही संपूर्ण बाह्य पदार्थ जीव को सुख-दुःख देने में निमित्त बनते हैं अन्यथा मोहरूपी दोष न हो तो कोई भी बाह्य पदार्थ किसी भी जीव को किंचित् मात्र भी सुख-दुःख देने में निमित्त नहीं होते। इसका अर्थ मोह ही सुख-दुःखदाता है।

(५८)

निज शुद्धात्मा की उपासना ही निर्वाणसुख का उपाय -

तस्मात्सेव्य: परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभि: ।
लब्ध्युपाय: परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मण: ।।४४।।

मोक्ष की इच्छा रखनेवाले साधक को कर्ता-कर्म-करण की अभेदता के कारण निश्चित एवं शुद्ध आत्मा की ज्ञानपूर्वक श्रद्धा द्वारा निजात्मा की उपासना करना चाहिए, क्योंकि मोक्षसुख की प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय/साधन नहीं है।

(५९)

आस्रव रोकने/संवर का एकमेव उपाय -

नागच्छच्छक्यते कर्म रोद्धुं केनापि निश्चितम् ।
निराकृत्य परद्रव्याण्यात्मतत्त्वरतिं विना ।।४९।।

परद्रव्यों को छोड़कर अर्थात् हेय अथवा ज्ञेय मानकर निजात्मतत्त्व में लीनता किये बिना आते हुए कर्म समूह को किसी भी उपाय से रोकना सम्भव नहीं है; यह निश्चित/परमसत्य है।

(६०)

सर्वोत्तम निर्जरा का स्वामी -

आत्मतत्त्वरतो योगी कृत-कल्मष-संवरः ।
यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ।।२५७।।

जो मुनिराज निज शुद्ध आत्मतत्त्व में सदा लवलीन रहते हैं, जिन्होंने सकल कषाय-नोकषायरूप पाप का संवर किया है तथा जो सदा मात्र ध्यान में प्रवृत्त रहते हैं, वे ही कर्मों की उत्कृष्ट निर्जरा करते हैं, अन्य कोई नहीं।

(६१)

शुद्धात्मध्यान से मोह का नाश -

न मोह-प्रभृति-च्छेदः शुद्धात्मध्यानतो बिना ।
कुलिशेन बिना येन भूधरो भिद्यते न हि ।।३०६।।

जिसप्रकार वज्र के बिना पर्वत नहीं भेदा जाता, उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के ध्यान के बिना मोहादि कर्मों का छेद अर्थात् नाश नहीं होता।

(६२)

ध्यान के लिए प्रेरणा -

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्त्वतः प्रतिपत्तये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनाम् ।।३३३।।

इसलिए विचारशील भव्य जीवों को वास्तविक देखा जाय तो वादविवाद, चर्चा, उहापोह, प्रश्नोत्तर, उपदेश करना आदि सब छोडकर निरंतर इस अत्यंत उपकारक ध्यान के लिए ही महान प्रयास करना चाहिए।

(६३)

वाद-विवाद का फल -

वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितम् ।
नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बिनः ।।३३५।।

जिसप्रकार चलने में विलंब करनेवाला प्रमादी मनुष्य अपने इच्छित स्थान पर्यंत नहीं पहुँच पाता; उसीप्रकार जो कोई साधक, वाद-प्रतिवाद के चक्कर में पड़े रहते हैं; वे निश्चितरूप से तत्त्व के अंत को अर्थात् परमात्म पद को प्राप्त नहीं होते अर्थात् संसार में ही भटकते रहते हैं।

(६४)

शुद्धात्मा का ध्यान अलौकिक फलदाता -

चिन्त्यं चिन्तामणिर्दत्ते कल्पितं कल्पपादपः ।
अविचिन्त्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिन्तितः ।।३३८।।

चिंतामणि रत्न के सामने बैठकर जीव जिन वस्तुओं का चिंतन करता है, चिंतामणि रत्न उन वस्तुओं को जीव को देता है और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थों को देता है; परंतु त्रिकाली निज शुद्धात्मा का ध्यान जीव के लिये अचिंत्य और अकल्पित पदार्थों को देता है।

(६५)

शुद्धात्म-ध्यान से कामदेव का सहज नाश -

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा हन्यन्ते येन दुर्जयाः ।
मनोभू-हनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते ।।३३९।।

जिस शुद्धात्मा के ध्यान से दुर्जय अर्थात् जीतने के लिये कठिन जन्म, जरा, मरण, रोग आदि जीव के विकार नाश को प्राप्त होते हैं, उस शुद्धात्मा को काम विकार के हनन में कोई भी नया श्रम करना नहीं पड़ता - वह तो उससे सहज ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

(६६)

समीचीन साधनों में आदर आवश्यक -

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्जायते सदुपायतः ।
सदुपाये ततः प्राज्ञैर्विधातव्यो महादरः।।३४१।।

क्योंकि उपेय अर्थात् मोक्षरूप साध्य की सिद्धि समीचीन साधनों

से होती है; इसलिए विद्वानों को समीचीन साधनों अर्थात् सम्यक् उपाय करने में अतिशय आदर रखना चाहिए।

(६७)

आत्मध्यान की बाह्य सामग्री -

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनम्।
जनपदात्ययः षोढा सामग्रीयं बहिर्भवा ।।३४३।।

अध्यात्मचिंतन अर्थात् निज शुद्धात्मध्यान के लिये उत्साह, निश्चय अर्थात् स्थिर विचार, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन, जनपद-त्याग अर्थात् सामान्यजनों से संपर्क का त्याग यह छह प्रकार की बाह्य सामग्री है।

(६८)

आत्मध्यान की अंतरंग सामग्री -

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च।
त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं ध्यानमाप्नोति पावनम्।।३४४।।

आगम से, अनुमान ज्ञान से और ध्यानाभ्यासरूप रस से - इन तीन प्रकार की पद्धति से अपनी बुद्धि को विशुद्ध करनेवाला ध्याता/साधक, पवित्र आत्मध्यान को प्राप्त होता है।

(६९)

विद्वत्ता का सर्वोत्तम फल -

आत्म-ध्यान-रतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेष-शास्त्र-शास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः।।३४५।।

विद्वत्ता का सर्वोत्तम फल निज शुद्धात्म ध्यान में रति अर्थात् आत्मलीनता ही जानना चाहिए। यदि विद्वत्ता प्राप्त होने पर भी वह विद्वान मनुष्य आत्म-मग्नतारूप कार्य न करे तो संपूर्ण शास्त्रों का शास्त्रीपना अर्थात् जानना भी संसार ही है; ऐसा बुद्धिधनधारकों ने अर्थात् महान विद्वानों ने कहा है।

(७०)

विद्वानों का संसार -

संसारः पुत्र-दारादिः पुंसां संमूढचेतसाम्।
संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम्।।३४६।।

जो मनुष्य स्त्री-पुत्रादिक परद्रव्य में आसक्त होने से अच्छी तरह मूढचित्त अर्थात् अज्ञानी हैं, उनका संसार स्त्री-पुत्रादिक है। जो विद्वान शास्त्रार्थ को जानते हुए भी अध्यात्म से अर्थात् आत्मलीनता से रहित हैं, उनका संसार शास्त्र है।

(७१)

सद्ध्यानरूपी खेती करने की प्रेरणा -

ज्ञान-बीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु।
न सद्ध्यानकृषेरन्तः प्रवर्तन्तेऽल्पमेधसः ।।३४७।।

कर्मभूमियों में दुर्लभ मनुष्यता और सर्वोत्तम ज्ञानरूपी बीज को पाकर भी जो मनुष्य प्रशस्त ध्यानरूप खेती के भीतर प्रवृत्त नहीं होते अर्थात् मोक्षप्रदाता सम्यग्ध्यान की खेती नहीं करते, वे मनुष्य अल्पबुद्धि अर्थात् अज्ञानी है।

(७२)

मुक्ति का कारण -

कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः।
विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थतः ।।४५१।।

इस चारित्र अधिकार में २८ मूलगुणों की मुख्यता से कहा हुआ चारित्र व्यवहारनय से निर्वाण/मुक्ति का कारण है। निश्चयनय से कर्मरूपी कलंक से रहित निज शुद्धात्मा का ध्यान ही निर्वाण का कारण है।

(७३)

जिनेंद्रकथित व्यवहार चारित्र मोक्ष के लिये अनुकूल होने का कारण-

चारित्रं चरतः साधोः कषायेन्द्रिय-निर्जयः।

स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः ।।४५४।

जिनेंद्र-कथित २८ मूलगुणरूप व्यवहार चारित्र का यथार्थ आचरण करने से क्रोधादि कषायों का एवं स्पर्शनेंद्रियादि इंद्रियों का जीतना होता है। इनको जीतने से शास्त्र का स्वाध्याय/निजात्मा का ज्ञान तथा अनुभव होता है। इस कारण आत्मध्यान होता है। आत्म-ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

(७४)

ध्यान का लक्षण -

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम्।

हेमक्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते ।।४७०।।

पुरुषों का अर्थात् जीवों का निर्मल/सम्यग्ज्ञान जब स्थिर होता है, तब उस ज्ञान को ही ध्यान कहते हैं। यह ठीक ही है; क्योंकि किट्ट-कालिमादिरूप मल से रहित हुआ सुवर्ण क्या कल्याणपने को प्राप्त नहीं होता? अर्थात् शुद्ध सुवर्ण कल्याणपने को प्राप्त होता ही है। इस दुनियाँ में निर्मल सुवर्ण को कल्याण नाम से जाना भी जाता है।

(७५)

तत्त्वचिंतकों का अलौकिक ध्येय तत्त्व -

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते।

तत् तत्त्वं तत्त्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर-निराशिभिः ।।४८८।।

जिस (निज भगवान आत्मा) का चिन्तन/ध्यान करने पर विकार निर्विकारता को प्राप्त हो जाते हैं (वीतरागमय धर्म प्रगट हो जाता है), उस (चिन्तनयोग्य ध्येय) तत्त्व का अन्य चिन्ताओं के निराकरण में समर्थ (स्थिर चित्त) पुरुषों को वास्तविक चिन्तन करना चाहिए।

(७६)

अजीव द्रव्यों की स्वतंत्रता -

अवकाशं प्रयच्छन्तः प्रविशन्तः परस्परम्।

मिलन्तश्च न मुञ्चन्ति स्व-स्वभावं कदाचन ।।६१।।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल - ये पाँचों अजीव द्रव्य एक-दूसरे को जगह/अवगाह देते हुए और एक-दूसरे में प्रवेश करते हुए तथा एक दूसरे में मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते।

(७७)

द्रव्य का उत्पाद-व्यय, पर्याय अपेक्षा से -

नश्यत्युत्पद्यते भावः पर्यायापेक्षयाखिलः।

नश्यत्युत्पद्यते कश्चिन्न द्रव्यापेक्षया पुनः ।।६६।।

द्रव्य समूह को पर्याय की अपेक्षा से देखा जाय तो द्रव्य नष्ट होता है और द्रव्य ही उत्पन्न भी होता है ;परन्तु अनादि-अनंत अर्थात् अविनाशी द्रव्य की अपेक्षा से देखा जाय तो कोई भी द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।

(७८)

द्रव्य के साथ गुण-पर्यायों का अविनाभावी संबंध -

किंचित् संभवति द्रव्यं न विना गुण-पर्ययैः।

संभवन्ति विना द्रव्यं न गुणा न च पर्ययाः ।।६७।।

कोई भी द्रव्य, गुण-पर्यायों के बिना नहीं हो सकता और कोई भी गुण अथवा कोई भी पर्याय द्रव्य के बिना नहीं हो सकते।

(७९)

कोई किसी का कभी कोई कार्य करता ही नहीं -

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थतः।

करोति कोऽपि कस्यापि न किंचन कदाचन ।।७७।।

सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में मग्न/लीन हैं; इसकारण निश्चयनय से कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कुछ भी कार्य नहीं कर सकता।

(८०)

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र -

नान्यद्रव्य-परीणाममन्य-द्रव्यं प्रपद्यते।
स्वान्य-द्रव्य-व्यवस्थेयं परस्य घटते कथम्।।१२५।।

अन्य द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य को प्राप्त नहीं होता अर्थात् एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के परिणमनरूप कभी नहीं होता, यदि ऐसा न माना जाय तो यह स्वद्रव्य-परद्रव्य की व्यवस्था कैसे बन सकती है ? अर्थात् नहीं बन सकती।

(८१)

सब स्वतंत्र एवं स्वाधीन -

कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगा: कषायत:।
न मूर्तामूर्तयोरस्ति संभवो हि परस्परम्।।१३०।।

ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगों से क्रोधादि कषाय उत्पन्न नहीं होते और कषायों से ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग उत्पन्न नहीं होता। अमूर्तिक द्रव्य से मूर्तिक द्रव्य उत्पन्न हो और मूर्तिक द्रव्य से अमूर्तिक द्रव्य उत्पन्न हो - ऐसी परस्पर उत्पत्ति संभव ही नहीं है।

(८२)

सर्व परद्रव्यों से आत्मा का संबंध नहीं -

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा।
पर-द्रव्य-बहिर्भूत: परद्रव्येण सर्वथा।।२८१।।

समल अथवा निर्मल कोई भी परद्रव्य आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता और आत्मा को शुद्ध भी नहीं कर सकता; क्योंकि आत्मा परद्रव्यों से सर्वथा बहिर्भूत अर्थात् भिन्न है।

(८३)

सब द्रव्य स्वस्वभाव में स्थित -

सर्वे भावा:स्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिता:।
न शक्यन्तेऽन्यथाकर्तुं ते परेण कदाचन।।५०२।।

(जाति की अपेक्षा जीवादि छह द्रव्य और संख्या की अपेक्षा अनंतानंत) सब द्रव्य स्वभाव से अपने-अपने स्वभाव अर्थात् स्वरूप में सदा स्थित रहते हैं; वे सभी द्रव्य पर के द्वारा कभी अन्यथारूप नहीं किये जा सकते।

(८४)

नय-सापेक्ष आत्मा का कर्तापना -

शुभाशुभस्य भावस्य कर्तात्मीयस्य वस्तुत:।
कर्तात्मा पुनरन्यस्य भावस्य व्यवहारत:।।११७।।

आत्मा निश्चय से अपने शुभ तथा अशुभ भाव/परिणाम का कर्ता है और व्यवहार से पर द्रव्य के भाव का कर्ता है।

(८५)

सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का कोई भी कर्ता-हर्ता नहीं -

उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिन:।
तत: स्वयं स दाता न, परतो न कदाचन।।२०९।।

परिणमनशील जीव की ये सम्यग्दर्शनादि पर्यायें स्वयं से उत्पन्न होती हैं और स्वयं विनाश को प्राप्त होती हैं। इसलिए जीव द्रव्य भी इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का दाता अर्थात् कर्ता-हर्ता नहीं है और कोई परद्रव्य भी सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का उत्पाद तथा व्यय कभी भी नहीं करते।

(८६)

सम्यक् श्रद्धानादि में जीव स्वयं प्रवृत्त होता है -

रत्नत्रये स्वयं जीव: पावने परिवर्तते।
निसर्गनिर्मल: शङ्ख: शुक्लत्वे केन वर्त्यते।।२२७।।

जैसे स्वभाव से निर्मल शंख स्वयं अपने स्वभाव से ही शुक्लता में परिवर्तित होता है, अन्य किसी से नहीं; वैसे जीव पवित्र रत्नत्रय की आराधना में स्वयं प्रवृत्त होता है; अन्य किसी से नहीं।

(८७)

मिथ्याश्रद्धादि में जीव, स्वयं प्रवृत्त होता है -

स्वयमात्मा परं द्रव्यं श्रद्धत्ते वेत्ति पश्यति।
शङ्ख-चूर्णः किमाश्रित्य धवलीकुरुते परम्।।२२८।।

जैसे शंख का चूर्ण किसी भी अन्य का आश्रय न लेकर स्वयं दूसरे को धवल करता है; वैसे आत्मा स्वयं परद्रव्य को देखता, जानता और श्रद्धान करता है।

(८८)

विशुद्धभावधारी कर्मक्षय का अधिकारी -

शुभाशुभ-विशुद्धेषु भावेषु प्रथम-द्वयम्।
यो विहायान्तिमं धत्ते क्षीयते तस्य कल्मषम्।।२६१।।

जीव के शुभ, अशुभ एवं विशुद्ध इसतरह तीन भाव हैं। इनमें से पहले शुभ-अशुभ-इन दो भावों को छोड़कर अर्थात् हेय मानते हुए/गौण कर अंतिम अर्थात् तीसरे विशुद्ध भावों को जो धारण करते हैं, वे साधक कषायों का नाश करते हैं।

(८९)

मुमुक्षुओं का स्वरूप -

न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः।
निर्वाणं साध्यते यस्मात् समस्ताग्रहवर्जितैः।।४९०।।

जो मोक्ष के अभिलाषी/इच्छुक जीव हैं, उन्हें अन्य किसी भी तत्त्व का अर्थात् व्यवहार धर्म के साधन/निमित्तरूप पुण्यपरिणामों का अथवा शुभ क्रियाओं का आग्रह/हठ नहीं रखना चाहिए; क्योंकि जो

समस्त प्रकार के आग्रहों से/एकांत अभिनिवेशों से रहित हो जाते हैं अर्थात् मध्यस्थ/सहज रहते हैं वे ही सिद्धपद को प्राप्त करते हैं।

(९०)

जीव के भाव एवं उनका कार्य -

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्त्रेधा जीवस्य जायते।
यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरस्ति कारणम्।।५१८।।

अनेक जीवों की अपेक्षा से जीव के भाव तीन प्रकार के होते हैं - एक शुभ, दूसरा अशुभ और तीसरा शुद्ध। इनमें से शुभभाव पुण्य का कारण है, अशुभभाव पाप का और शुद्धभाव निर्वृति अर्थात् मोक्ष का कारण है।

(९१)

मोक्ष के उपाय का उपदेश -

ततः शुभाशुभौ हित्वा शुद्धं भावमधिष्ठितः।
निर्वृतो जायते योगी कर्मागमनिवर्तकः।।५१९।।

इस कारण जो योगी कर्मों के आस्रव का निरोधक है, वह शुभ-अशुभ भावों को छोड़कर शुद्धभाव/वीतराग भाव में अधिष्ठित अर्थात् विराजमान होता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है।

(९२)

स्पर्शादि विषयों को जानने से कर्मबंध नहीं -

विषयं पञ्चधा ज्ञानी बुध्यमानो न बध्यते।
त्रिलोकं केवली किं न जानानो बध्यतेऽन्यथा।।५२५।।

ज्ञानी पाँच प्रकार के इन्द्रिय विषयों (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द) को जानते हुए भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होते। (यदि विषयों को जानने से ज्ञानी बन्ध को प्राप्त हो तो) तीन लोक को जाननेवाले केवली भगवान क्या बन्ध को प्राप्त नहीं होंगे? (अवश्य बन्धेंगे, किन्तु वे तो नहीं बन्धते

हैं, अतः ज्ञानी भी विषयों को जानते हुए बन्धते नहीं हैं – इसमें क्या आश्चर्य है?)।

(९३)

मिथ्यात्व ही आस्रव का प्रमुख कारण –

चेतनेऽचेतने द्रव्ये यावदन्यत्र वर्तते।
स्वकीयबुद्धितस्तावत्कर्मागच्छन् न वार्यते।।११६।।

जब तक अज्ञानी अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव, चेतन अथवा अचेतन किसी भी परद्रव्य में अपनेपन की बुद्धि से प्रवृत्ति करता है अर्थात् पर में अपनत्व की मान्यता रखता है, तबतक अष्ट कर्मों के आस्रव को रोका नहीं जा सकता।

(९४)

पर से सुख-दुःख की मान्यता से निरन्तर आस्रव –

परेभ्यः सुख–दुःखानि द्रव्येभ्यो यावदिच्छति।
तावदास्रव–विच्छेदो न मनागपि जायते।।१२६।।

जबतक यह जीव परद्रव्यों से सुख–दुःख की इच्छा करता है अर्थात् परद्रव्यों से सुख–दुःख की प्राप्ति की मान्यता रखता है, तबतक आस्रव का किंचित्/अल्प भी विच्छेद अर्थात् नाश नहीं हो सकता अर्थात् आस्रव निरन्तर होता ही रहता है।

(९५)

व्यवहार चारित्र से मुक्ति नहीं –

पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन्नपि।
वर्तमानः कषायेन कल्मषेभ्यो न मुच्यते।।१४७।।

हिंसादि पाँच पाप और पापजनक आरम्भ को छोड़कर (२८ मूलगुणरूप) पुण्यमय आचरण करता हुआ भी (मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि)

यदि (पुण्य-पाप को उपादेय माननेरूप) कषाय अर्थात् मिथ्यात्व के साथ वर्त रहा है तो वह मिथ्यात्वरूप पाप से नहीं छूटता।

(९६)

कर्मबंध में बाह्य वस्तु अकिंचित्कर –

जायन्ते मोह–लोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः।
तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुतः।।१४८।।

यद्यपि वस्तु के अर्थात् बाह्य परपदार्थ के निमित्त से मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं; तथापि कर्म का बन्ध, उत्पन्न हुए दोषों के कारण होता है, न कि वस्तु के कारण अर्थात् परपदार्थ बन्ध का कारण नहीं है।

(९७)

कर्मबन्ध का स्वामी –

रागद्वेषद्वयालीढः कर्म बध्नाति चेतनः।
व्यापारं विदधानोऽपि तदपोढ़ो न सर्वथा।।१५३।।

राग–द्वेष–दोनों से सहित चेतन/आत्मा कर्म को बांधता है और राग–द्वेष से रहित आत्मा मन–वचन–काय की क्रिया को करता हुआ भी कर्म का बन्ध किंचित् मात्र भी नहीं करता।

(९८–९९)

कर्मबन्ध का कारण कषायों से आकुलित चित्त –

सर्वव्यापारहीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
रेणुभिर्व्याप्यते चित्रैः स्नेहाभ्यक्ततनुर्यथा।।१५६।।
समस्तारम्भ–हीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
कषायाकुलितस्वान्तो व्याप्यते दुरितैस्तथा।।१५७।।

जिसप्रकार शरीर में तैलादि की मालिश किया हुआ पुरुष धूलि से व्याप्त कर्मक्षेत्र में बैठा हुआ समस्त व्यापार से हीन होता हुआ अर्थात्

कर्मक्षेत्र में स्वयं कुछ काम न करता हुआ भी नाना प्रकार की धूलि से व्याप्त होता है।

उसीप्रकार जिसका चित्त क्रोधादि कषायों से आकुलित है, वह कर्म के मध्य में स्थित हुआ समस्त आरम्भों से रहित होने पर भी कर्मों से व्याप्त/लिप्त होता है।

(१००)

मरणादिक सब कर्म-निर्मित -

कर्मणा निर्मितं सर्वं मरणादिकमात्मनः।
कर्मावितरतान्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यते।।१६०।।

आत्मा का मरण-जीवन, सुख-दुःख, रक्षण, पीडन - ये सब कार्य कर्म द्वारा निर्मित हैं। जो कर्म को नहीं देनेवाले ऐसे अन्यजन हैं, उनके द्वारा जीवन-मरणादिक का करना-हरना कभी नहीं बन सकता।

(१०१)

कर्ममल से रहित आत्मा निर्बन्ध -

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः।
पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः किट्टेन युज्यते।।५०९।।

जिसप्रकार किट्ट कालिमारूप मल से भिन्न किया गया शुद्ध सुवर्ण फिर से किट्ट कालिमा से युक्त होकर अशुद्ध नहीं हो सकता; उसीप्रकार जो ज्ञानावरणादि आठों कर्मरूपी रज से रहित हुआ है, वह शुद्ध आत्मा भी फिर से कर्मों से युक्त नहीं होता अर्थात् बंधता नहीं है।

●●●